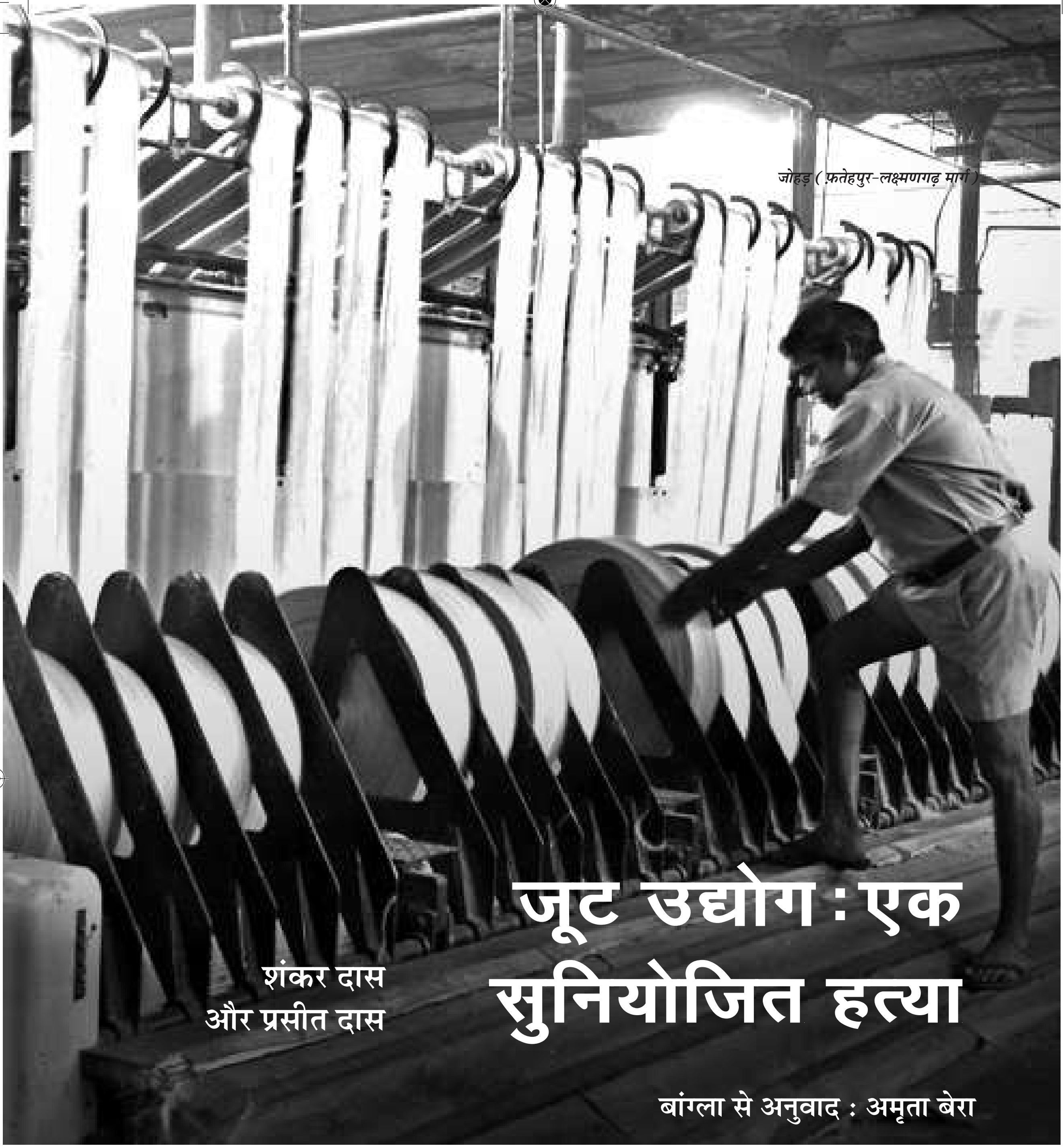


जोहड़ (फ़तेहपुर-लक्ष्मणगढ़ मार्ग)

जूट उद्योग : एक सुनियोजित हत्या

शंकर दास
और प्रसीत दास

बांग्ला से अनुवाद : अमृता बेरा

इस लेख में हमने भारत तथा पश्चिम बंगाल में जूट उद्योग की वर्तमान दुर्दशा की चर्चा की है। एक समय यह उद्योग नितांत हमारा अपना और स्पंदनशील गति से भरपूर था। बावजूद इसके कि जूट की आवश्यकता सारी दुनिया को थी, पानी और आबोहवा की वजह से पश्चिम बंगाल और पूर्वी बंगाल (बांग्लादेश) के अलावा इस उद्योग के विस्तार की सम्भावना दूसरे देशों में बहुत सीमित थी। यह उद्योग कभी प्रतियोगिता में स्कॉटलैंड के डण्डी को हरा कर अकेले दम पर भारत की आर्थिक रीढ़ के एक उपादान के रूप में उभरा था। प्रश्न यह है कि क्या उसकी वर्तमान दुर्दशा प्राकृतिक

नियमों के अनुसार स्वाभाविक रूप से हुई है? क्या काल के अंतहीन गतिशील पथ पर यह एक स्वाभाविक मृत्यु है? या इसके पीछे छुपा हुआ है इस उद्योग की हत्या का एक कुटिल षड्यंत्र? पिछले दिनों पश्चिम बंगाल में जूट के कारख़ानों का एक के बाद एक बंद होना, श्रमिकों का असंतोष, श्रमिक संघर्ष व उसके विस्फोट के परिप्रेक्ष्य में हम इन प्रश्नों का उत्तर खोजना चाहते हैं। अपनी इस खोज में हमने नये तरीक़े से जूट उद्योग पर आये संकट के प्रत्येक पहलू को समझने की कोशिश की है। इस प्रयास से जो निकल कर आया है, वह है एक देश के स्वाधीन विकास को पंगु बनाने से जुड़ी हक़ीक़त और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और उनके सिद्धांतकारों द्वारा रचित तथाकथित धारणा को ज़बरदस्ती थोपने से जुड़े कई महत्त्वपूर्ण सवाल। जूट उद्योग को लेकर छानबीन करने की प्रक्रिया में हमने मानव जाति के अस्तित्व के संकट जैसे मौलिक प्रश्न तक का साक्षात्कार किया है। ख़ास बात यह है कि ये सारे प्रश्न जूट उद्योग पर चर्चा के दौरान हमारी अपनी इच्छा के आरोपण की उपज नहीं हैं, बल्कि ये तो अवधारणागत रूप से वास्तविकता की ज़मीन से अपने आप ही उठ खड़े हुए हैं। इसलिए यह आलोचना सिर्फ़ जूट उद्योग के मालिक वर्ग या श्रमिकों की कहानियों तक ही सीमित न रह कर उसके परे चली गयी है।

'जूट-वूट और नहीं चलेगा'

'जूट-वूट और नहीं चलेगा'— कॉरपोरेट मीडिया के इस प्रचार पर जो विश्वास नहीं करते, ऐसे लोगों की संख्या ऊँगलियों पर गिनी जा सकती हैं। यहाँ तक कि जो लोग विकास और प्रगति के विकल्प पर भरोसा करते हैं, उनके भी एक बड़े अंश के भीतर यही यक़ीन दिखाई पड़ता है कि जूट का कोई भविष्य नहीं है। इस वक्तव्य के पीछे वे जो दलील देते हैं, वह है इस उद्योग का दुनिया में कोई बाज़ार न होना। दुनिया भर में अब प्लास्टिक यानि पेट्रोलियम उत्पादों पर आधारित पैकेजिंग का दबदबा है। प्लास्टिक आसानी से उपलब्ध है, प्लस्टिक सस्ता है, और टाट के बोरे-बस्ते, जूट की पैकेजिंग कोई ख़रीदना नहीं चाहता है, इत्यादि-इत्यादि। आज की पेट्रोलियम सभ्यता की ओर नज़र डालने पर इन युक्तियों में दम लगना अस्वाभाविक नहीं है। लेकिन पश्चिम बंगाल में यह बात कहना इतना तर्कसंगत नहीं है। वजह यह है कि इस राज्य में दो लाख से ज़्यादा जूट श्रमिक हैं। इसके अलावा कई लाख किसान पटसन यानी जूट की खेती करते हैं। अत: पश्चिम बंगाल का एक बड़ा हिस्सा जूट उद्योग पर निर्भर है। इसके अलावा और भी कई महत्त्वपूर्ण पहलू हैं। मनुष्य पेट्रोलियम उत्पादों को अपने उत्पादन यंत्रों द्वारा विभिन्न रूप तो दे सकता है, लेकिन इसमें लगने वाला पदार्थ जूट की तरह उत्पादित-पुनरुत्पादित नहीं होता। पेट्रोल तो प्राकृतिक संसाधन है और मनुष्य इसका प्रकृति से आहरण करता है। इसकी एक सीमा है, इसका एक अंत है। साथ ही इसकी प्रदूषणकारी प्रकृति के बारे में भी अब लोग अधिक से अधिक जागरूक होते जा रहे हैं। इसलिए जूट उद्योग के भविष्य को लेकर प्रचलित बातों की अच्छी तरह से जाँच कर लेना ज़रूरी है। क्या सच में जूट उद्योग का भविष्य अंधकारमय है? क्या सच में जूट की वस्तुओं का कोई बाज़ार नहीं? वैसे बाज़ार का मतलब क्या है? यह कोई दिव्य या प्राकृतिक चीज़ तो है नहीं। बाज़ार निर्मित होता है, उसका निर्माण किया जाता है। जिस तरह अमेरिका के स्वतंत्रता-घोषणापत्र की पहली पंक्ति का व्यवहार कर रेडीमेड कपड़ों के प्रख्यात ब्रांड वैन ह्युसन ने अपने विज्ञापन में कहा था : 'ऑल मेन आर क्रियेटिड ईक्वल। देन यू बाय वैन ह्युसन।' देखना यह है कि जूट उद्योग के डूबते बाज़ार के पीछे कहीं इस तरह की किसी आक्रामक शक्ति द्वारा पराभूत करने की कहानी तो नहीं है! आइए, इसे समझने की कोशिश करें। इसलिए इस चर्चा के शुरू में ही हम जूट के बाज़ार में प्रवेश करते हैं। यथासमय हम दूसरे और विषयों पर भी आएँगे।

जूट का बाज़ार

वह एक समय था, एक दूसरी दुनिया थी जिसे प्लास्टिक-पूर्व दुनिया कहा जा सकता है। प्लास्टिक जैसे कृत्रिम पदार्थ का चलन तब शुरू नहीं हुआ था। इसलिए उस वक़्त पैकेजिंग के क्षेत्र में जूट की बहुत क़द्र थी। प्लास्टिक को लेकर अनुसंधान 1907 से शुरू हुआ था। दूसरे विश्व-युद्ध के बाद इसने रफ़्तार पकड़ी। 1950 के दशक में पेट्रोलियम उत्पादों यानी इस पदार्थ के विभिन्न अवयवों का व्यापारिक उत्पादन होना शुरू हुआ। पैकेजिंग के क्षेत्र में जूट को उस होड़ का सामना करना पड़ा जिसकी इससे पहले कल्पना भी नहीं थी। हमारे देश में प्राचीन काल से ही पटवस्त्र यानी जूट (टाट) के कपड़ों का प्रचलन रहा है। अट्ठारहवीं शताब्दी तक पुरानी पद्धति से हस्तशिल्प द्वारा रस्सियाँ, मोटे कपड़े, बस्ते इत्यादि बनाए जाते थे। वैसे पूरी दुनिया के साथ जूट का परिचय कराने का श्रेय अंग्रेज़ों को जाता है। अट्ठारहवीं सदी के अंत से अंग्रेज़ों ने युरोप में जूट का निर्यात शुरू किया था। उस वक़्त प्राकृतिक तंतु के रूप में रूस से आया एक तरह का रेशा (फ़ाइबर) बहुत लोकप्रिय था। लेकिन 1853 में क्रीमिया का युद्ध शुरू हो जाने के बाद से उसकी सुलभता कम हो गयी। इसी बीच 1830 में स्कॉटलैंड के डण्डी में पहला भाप से चलने वाला जूट कारख़ाना शुरू हुआ। 1793 में भारत से ब्रिटेन में मात्र सौ टन जूट निर्यात हुआ था, लेकिन इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति का हाथ थाम कर यंत्र-सभ्यता की उन्नति होने से जूट का इस्तेमाल तेज़ी से बढ़ा। जूट के कपड़े ब्लीच करने और उन्हें रँगने की पद्धति का भी आविष्कार हो चुका था। क्रीमिया की लड़ाई ने जूट को न सिर्फ़ हवा दी, बल्कि उसे तूफ़ानी गति मिल गयी। पूरे यूरोप में जूट का इस्तेमाल कुलाँचें भरता बढ़ता गया। चूँकि दुनिया-भर में जूट की खेती मुख्य रूप से भारत में ही होती थी और भारत एक अंग्रेज़ी उपनिवेश था, इसलिए युरोप के प्राकृतिक तंतु के बाज़ार पर अपना क़ब्ज़ा जमाने के लिए जूट अंग्रेज़ों का प्रधान हथियार बन गया। अंग्रेज़ों ने विशेष रूप से जूट पर नज़र जमाई और युरोप के बाज़ार में उनके द्वारा जूट का निर्यात दिन दूनी रात चौगुनी रफ़्तार से बढ़ने लगा। 1828 से 1865 तक बंगाल से किये गये जूट के निर्यात का आँकड़ा इस

तालिका-1

बंगाल से जूट का निर्यात (1828 -1865)

वर्ष	परिमाण (टन)
1828-33	1200
1833-38	6700
1838-43	11,700
1843-48	23,800
1848-53	73,900
1853-58	79,000
1858-63	97,000
1863-68	2,62,800

स्रोत : नागरिक मंच

प्रकार था :

1855 में जॉर्ज ऑकलैंड ने गंगा के किनारे रिसड़ा में पहला (जूट मिल) स्थापित किया। 1870 तक बंगाल में कुल पाँच जूट मिलों की स्थापना की गयी थी। इन पाँच कारख़ानों में कुल मिला कर 950 लूम (करघे) थे। उन्नीसवीं सदी के अंत तक बंगाल के ग्रामीण इलाक़ों से हस्तशिल्प आधारित जूट उद्योग का विघटन हो

तालिका-2

ब्रिटिश काल में बंगाल में जूट उद्योग का विस्तार

वर्ष	कारख़ाने	श्रमिक संख्या
1870	5	–
1912	61	1,99,725
1921	77	2,81,848
1926	86	3,27,547
1931	93	2,68,289
1941	101	2,86,681

स्रोत : नागरिक मंच

गया। यहाँ तक कि बंगाल के जूट उद्योग ने स्कॉटलैंड के डण्डी को भी प्रतियोगिता से बाहर कर दिया। भू-प्रकृति (टोपोग्राफ़ी), आबोहवा इत्यादि के कारण बंगाल पटसन यानी जूट की खेती का केंद्र बन कर भारत के जूट उद्योग का प्रधान स्थान बन गया। तालिका-2 से बिल्कुल स्पष्ट है कि 1870 से 1941 के बीच बंगाल और भारत के जूट उद्योग का इतिहास निर्बाध प्रगति का इतिहास रहा है। इस दौरान दो-दो विश्व-युद्धों ने पूरी दुनिया, विशेष रूप से युरोप, में जूट की माँग को आसमान तक पहुँचा दिया। बिना किसी प्रतिस्पर्धा के उस वक़्त पैकेजिंग के क्षेत्र में बस एक जूट ही भरोसेमंद वस्तु थी, और पूरी दुनिया में उसके उत्पादन की एकमात्र जगह थी अविभाजित बंगाल। लेकिन दूसरे विश्व-युद्ध के बाद से परिस्थिति में परिवर्तन शुरू हुआ। अहम बात यह थी कि देश के आंतरिक बाज़ार में इसकी माँग में वृद्धि हो रही थी और दूसरी तरफ़ विदेश के बाज़ार में लगातार खपत घट रही थी।

तालिका-3

औसत वार्षिक उत्पादन और बाज़ार में खपत (1951-97)

वर्ष	उत्पादन (टन)	घरेलू बाज़ार	निर्यात	अतिरिक्त
1951-55	10, 21,200	1,54,200	8,13,900	53,100
1965-60	11,50,800	2,99,200	8,45,200	6400
1961-65	13,08,960	3,93,800	5,78,500	21,200
1969-74	11,31,000	5,31,300	5,78,500	29,200
1975-79	12,09,300	7,37,500	4,61,600	10,200
1980-84	13,04,500	9,36,700	3,31,700	8100
1985-89	13,33,000	10,72,900	2,52,500	5900
1992-97	19,00,000	15,50,000	3,50,00	–

स्रोत : नागरिक मंच

तालिका-3 इसका प्रमाण है :

इस तालिका से साफ़ है कि 1951 से 1997 तक लगभग पचास वर्षों में भारत के आंतरिक बाज़ार में किस तरह जूट की खपत बढ़ती ही गयी। वैसे हमें यह बात भी ध्यान रखनी चाहिए कि देश के बाज़ार में जूट की वस्तुओं की निरंतर बढ़ती माँग की कहानी इन आँकड़ों से जितनी एकायामी दिखती है, सच्चाई में परिस्थिति वैसी नहीं थी। वास्तविकता यह है कि इस क्षेत्र में जो घटा, वह एक तीव्र संघात था। भारत जैसे विशाल देश में 1947 के अगले चरण में हाल में प्राप्त आज़ादी के बाद जो भी उत्पादन कार्य शुरू हुआ, उसके असर से बोरे की पैकेजिंग के सामान की माँग का बढ़ना

स्वाभाविक ही था। दूसरी तरफ़ विदेश के बाज़ार में तब तक प्लास्टिक केंद्रित पैकेजिंग शुरू हो चुकी थी। सिर्फ़ पैकेजिंग में ही नहीं, बल्कि उस समय समग्र रूप से रसायन केंद्रित सभ्यता की भी शुरुआत हो रही थी। समूचे विश्व में उच्च उपजाऊ बीज, रासायनिक उर्वरक बीज, रासायनिक खाद और कीटनाशक इत्यादि पर निर्भर कृषि व्यवस्था में आमूल परिवर्तन घट रहा था। भारत भी तरह-तरह से इस प्रक्रिया से गुज़र रहा था। यहाँ कृषि क्षेत्र में हरित क्रांति हो रही थी। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्लास्टिक लॉबी मज़बूत हो रही थी। प्राकृतिक तंतु पर निर्भर 'पुराने' तरह की पैकेजिंग की जगह कृत्रिम पदार्थ का इस्तेमाल लगातार बढ़ रहा था। विदेशी बाज़ार में जिस रफ़्तार से यह बढ़ा था, भारत में उस गति से न बढ़ने के बावजूद भी यहाँ प्लास्टिक बनाम जूट का संघर्ष शुरू हो गया था। चूँकि भारत में जूट की खेती एवं जूट की वस्तुओं के उत्पादन के क्षेत्र का महत्त्वपूर्ण अंश स्थायी एवं स्थिर था, इसलिए प्लास्टिक के बढ़ते इस्तेमाल को रोकने के लिए जूट की खेती करने वाले किसान व जूट श्रमिक विभिन्न तरह से इसका प्रतिरोध करने लगे। नतीजतन सरकार को 1987 में जूट पैकिंग मैटीरियल कम्पल्सरी यूज़ इन पैकेजिंग कमोडिटी एक्ट लाने के लिए मजबूर होना पड़ा। इस क़ानून के तहत बाध्यतामूलक रूप से विभिन्न क्षेत्रों में जूट के बोरे-बस्तों का इस्तेमाल होना शुरू हुआ— अनाज और चीनी के क्षेत्र में सौ प्रतिशत, सीमेंट और उर्वरक के क्षेत्र में क्रमशः सत्तर और पचास प्रतिशत। वैसे यह क़ानून परवर्ती समय में अपनी जगह पर टिका नहीं रह सका। जब-जब जूट श्रमिक और किसानों की लड़ाई मंद पड़ी और दूसरी तरफ़ 'प्रतिक्रियावादी' ताक़तें राजनीतिक रूप से ज़्यादा ताक़तवर हो उठीं, तब-तब प्लास्टिक लॉबियों की ताक़त में इज़ाफ़ा हुआ और इसके कारण जूट की पैकेजिंग के इस्तेमाल में गिरावट आ गयी। आजकल प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी की सत्ता में इस क़ानून को पूरी तरह ख़त्म कर देने की बात हो रही है।

तालिका-3 से हम बदलाव देख सकते हैं कि बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भारत के जूट की वस्तुओं का निर्यात व्यापक रूप से घटता गया। 1951 वर्ष में पहले पंचवर्षीय योजना की शुरुआत में जहाँ 8,13,900 टन निर्यात हुआ था वहाँ 1989 में यह घट कर बस ढाई लाख टन से कुछ ही ज़्यादा रह गया। विदेश के बाज़ार में निर्यात की लगातार गिरावट का कारण था युरोप और अमेरिका में प्लास्टिक की लोकप्रियता। इस बात का पहले भी उल्लेख किया गया है कि यह समय रासायनिक सभ्यता के दबदबे का था। लेकिन यहाँ यह प्रश्न खड़ा होता है कि विदेश के बाज़ार को अटूट रखने के लिए भारत सरकार एवं भारतीय जूट उद्योग के मालिकों ने कितनी कोशिशें कीं? क्या कभी उन्होंने विदेश के बाज़ार के बारे में सोचा भी?

यह ठीक है कि युरोप या अमेरिका में दूसरे विश्व-युद्ध के बाद से ही व्यापक रूप से प्लास्टिक का व्यवहार शुरू हो गया था जिसके कारण जूट को प्रतिस्पर्धा में आना पड़ा। प्राथमिक रूप से प्लास्टिक व दूसरे पेट्रोलियम पदार्थों की लोकप्रियता बढ़ गयी थी और रासायनिक सभ्यता चोटी पर पहुँच रही थी। लेकिन जल्दी ही इसकी हानिकारक प्रकृति और परिवेश का विनाशकारी चेहरा सामने आ गया। राजनीतिक स्तर पर प्लास्टिक लॉबी के शक्तिशाली होने के बावजूद सत्तर के दशक की बिल्कुल शुरुआत से इसके विरुद्ध युरोप में व अन्यत्र धीरे-धीरे जनमत तैयार होना शुरू हुआ। 1970 के जून में सबसे पहले नीदरलैंड में एक राजनीतिक संगठन सामने आया जो प्रकृति और परिवेश को सामने लाकर राजनीतिक संग्राम में उतरा। इसका नाम कैबाउटर्स था। इस दल ने एम्स्टर्डम की सिटी काउंसिल के निर्वाचन में 85 सीटों में से पाँच पर जीत हासिल की। यही थी युरोप-अमेरिका के ग्रीन मूवमेंट की शुरुआती झलकी। उसी समय से पॉलिटिकल इकोलॅजी का मतादर्श जनप्रिय होना शुरू हुआ। इस घटना से प्रेरित होकर व उनके मतादर्शों पर स्थापित सबसे पहला दल ऑस्ट्रेलिया में बना। पेडर लेक के ऊपर प्रस्तावित एक बाँध तैयार होने को ले कर जो राजनीतिक विवाद शुरू हुआ उसके फलस्वरूप 1972 में युनाइटेड तस्मानिया ग्रुप नाम के एक राजनीतिक दल का उदय हुआ। इसके बाद युरोप की ज़मीन में समन्वित ग्रीन मूवमेंट का आग़ाज़ जर्मनी में हुआ और विकसित विश्व में यह आंदोलन

लगातार अपनी शक्ति संचय करता हुआ आगे बढ़ता गया।

लेकिन भारत का जूट उद्योग इस परिस्थिति से कोई भी लाभ उठाने में नाकाम रहा। इस दौरान भारत में जूट उद्योग के उत्पादन की उल्लेखनीय वृद्धि भी हुई। तालिका–3 से हम देख सकते हैं कि 1951–55 के दौरान जहाँ औसत वार्षिक उत्पादन दस लाख टन से थोड़ा ज़्यादा था, वहीं 1991–97 में यह 19 लाख टन तक पहुँच गया। अर्थात् लगभग पचास साल में उत्पादन तक़रीबन दोगुना हो गया था। दूसरी तरफ़ निर्यात में तेज़ी से गिरावट आने के साथ बढ़ता उत्पादन भी समान भाव से कम हुआ। 1992–97 में देखा जा सकता है कि उत्पादन में कोई वृद्धि नहीं हुई। लेकिन, इससे समझा जा सकता

तालिका–4

जूट आयातक पहले बीस देशों की आमदनी का मौजूदा हिसाब

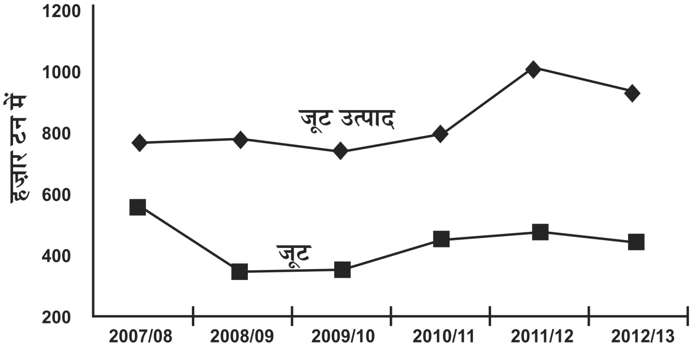
क्रम	2006–07			2007–08			2010–11		
	देश	मूल्य	प्रतिशत	देश	मूल्य	प्रतिशत	देश	मूल्य	प्रतिशत
1	अमेरिका	2144.10	20	अमेरिका	2346.49	20	अमेरिका	2322.67	13
2	बेल्जियम	816.75	8	ब्रिटेन	1131.62	10	तुरस्क	1652.78	9
3	तुरस्क	731.31	7	बेल्जियम	730.11	8	मिस्र	1383.88	7
4	ब्रिटेन	598.77	6	तुरस्क	647.77	7	सऊदी अरब	1262.75	7
5	सीरिया	547.82	5	मिस्र	611.57	6	ब्रिटेन	1020.03	6
6	मिस्र	510.98	5	सऊदी अरब	601.08	5	बेल्जियम	1012.14	5
7	सऊदी अरब	506.43	5	यूएई	490.77	4	नीदरलैंड्स	953.28	5
8	घाना	506.28	5	जर्मनी	477.69	4	जर्मनी	802.83	4
9	जर्मनी	481.63	5	घाना	343.12	3	घाना	734.08	4
10	नीदरलैंड्स	375.74	4	इटली	291.52	2	यूएई	659.71	4
11	इटली	304.45	3	नीदरलैंड्स	255.67	2	इण्डोनेशिया	575.46	3
12	यूएई	274.44	3	ईरान	253.17	2	ऑस्ट्रेलिया	443.24	2
13	जापान	176.34	2	ऑस्ट्रेलिया	223.03	2	ज़िम्बाब्वे	402.75	2
14	स्पेन	160.90	2	जापान	219.26	2	तन्जनिया	274.55	1
15	फ्रांस	130.84	1	सीरिया	218.98	2	इटली	257.91	1
16	ऑस्ट्रेलिया	129.59	1	ज़िम्बाब्वे	166.26	1	सीरिया	256.17	1
17	अलजीरिया	122.97	1	स्पेन	142.80	1	जापान	249.01	1
18	तंजानिया	116.92	1	कनाडा	134.44	1	कनाडा	215.55	1
19	दक्षिण अफ्रीका	109.06	1	फ्रांस	130.61	1	ईरान	191.30	1
20	कनाडा	98.97	1	इण्डोनेशिया	122.13	1	आईवरी कोस्ट	190.11	1
	देश 20	8844.29	86		9534.05	86		9534.05	79
	कुल	10551.63			11784.93			18541.46	

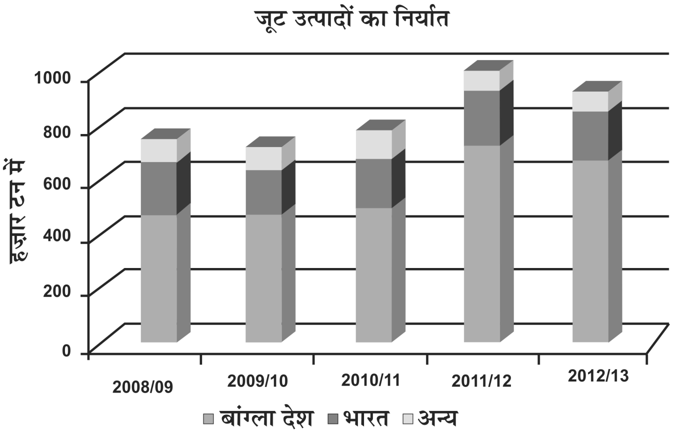
स्रोत : डीजीसीआई ऐंड कोलकाता

है कि विदेश के बाज़ार को खो कर भी भारत के जूट उद्योग को कोई सिरदर्दी नहीं थी। जितना भी उत्पादन हुआ वह सब भारत के बाज़ार में ही खप जा रहा था। इसके साथ-साथ यह भी एक सच्चाई थी कि आंतरिक बाज़ार के साथ-साथ भारत का जूट उद्योग अगर विदेश के बाज़ार में अपनी उपस्थिति क़ायम रख पाता एवं प्रतिकूल परिस्थितियों से लड़ कर और अनुकूल परिवर्तनों का लाभ उठा कर विदेश के बाज़ार को विकसित करने के लिए आक्रामक रुख़ अपनाता तो जूट को केंद्र कर भारत, विशेष रूप से भारत के पूर्वी क्षेत्रों, में इसके औद्योगीकरण की वास्तविक सम्भावना बन सकती थी। लेकिन भारत सरकार या भारत के जूट उद्योग, किसी को भी इस विषय में रत्ती भर भी आग्रह नहीं था, हालाँकि राजनीतिक ज़रूरत के हिसाब से अक्सर प्रगति, औद्योगीकरण', विकास आदि शब्द तोते की तरह दोहराए जाते रहे। इस चर्चा को आगे ले जाने से पहले अब हमें विदेश के बाज़ार में जूट की चीज़ों का मौजूदा हिसाब देखने की ज़रूरत है। ऊपर दी गयी तालिका में हम पहले बीस जूट उत्पाद आयातक देशों का हिसाब देख सकते हैं।

तालिका-4 स्पष्ट रूप से हमारे सामने कुछ तथ्य उजागर करती है। पहली बात है पूरे विश्व में जूट के उत्पादों की माँग का बढ़ना। 2006-07 में जहाँ भारतीय मुद्रा के हिसाब से 10553.63 मिलियन (एक मिलियन यानी दस लाख रुपये) की आमदनी हुई थी, वहीं 2010-11 में यह परिमाण आ कर खड़ा हुआ 18541.46 मिलियन रुपयों पर। यानी छह साल में कुल आमदनी 75.68 प्रतिशत बढ़ गयी। क्या यह संख्या बाज़ार के संकट को चिह्नित करती है? यहाँ एक आपत्ति उठाई जा सकती है कि तालिका में जूट के उत्पादनों की आमदनी को भारतीय मुद्रा में दिया गया है और चूँकि इस बीच भारतीय मुद्रा के विनिमय मूल्यों में काफ़ी तब्दीली हुई है, विशेषकर भारतीय मुद्रा डॉलर के सापेक्ष में कमज़ोर हुई है, इसलिए उपरोक्त तालिका कितनी इस उतार-चढ़ाव से प्रभावित है यह समझना मुश्किल है। इस मुश्किल को दूर करने के लिए हमने एक ऐसी तालिका की खोज की जो जूट उत्पाद के परिमाण को टनों में उजागर कर सके। दुर्भाग्यवश वह हमें नहीं मिली। सटीक तथ्य पाने में इस तरह रुकावटों का सामना करना ही पड़ता है। जो भी हो, www.fao.org/fileadmin/ templates/ est/.../Jute.../CurrentSituation,doc&- लिंक कुल निर्यात और आमदनी, दोनों का चित्र हमारे सामने लाता है, जिसे नीचे दिया जा रहा है। यहाँ पर यह भी देखने को मिलता है कि इस दौरान जूट के उत्पादों का निर्यात भी बढ़ा है। 2007-08 में जहाँ निर्यात सात लाख टन से थोड़ा ज़्यादा था वह साल 2011-12 में जाकर साढ़े नौ लाख टन हो गया। यह अलग बात है कि बाद के सालों में यह कुछ घट कर नौ लाख टन के आस-पास पहुँच गया था। फिर भी पिछले सालों की तुलना में इसने अपनी बढ़ने की गति को बहाल रखा। इसीलिए इस वेबसाइट ने निष्कर्ष निकाला कि जूट फ़ाइबर और उत्पादों का निर्यात 2012 और 2013 में क्रमश: 6.5 और 7.9 फ़ीसदी घट गया, लेकिन इसके बावजूद इसने पिछले सालों में प्राप्त ऊँचाई को बरक़रार रखा।

जूट फ़ायबर और उत्पादों के निर्यात का रुझान





इससे लगता है कि अगर घरेलू बाज़ार में 1987 का जूट पैकेजिंग एक्ट सख़्ती से लागू किया जाए और विदेश के लगातार बढ़ते बाज़ार को पकड़ में रखने के लिए भारत सरकार और जूट उद्योग प्रभावशाली पहल करे तो पता चलेगा कि जूट उद्योग की जो वर्तमान स्थिति है उसमें वे यहाँ की माँग की आपूर्ति ही कर पाते हैं या नहीं, बाज़ार का संकट तो दूर की बात है! वैसे भी वर्तमान परिस्थिति बताती है कि (तालिका–3) घरेलू माँग पूरा करने के बाद भारतीय जूट उद्योग के हाथ में और अतिरिक्त उत्पादन रहता ही नहीं है। यह तब है जब 1987 का क़ानून भारत सरकार ने लागू ही नहीं किया। जूट उद्योग के लिए इस संकुचित बाज़ार को ही पूरी आपूर्ति करना सम्भव नहीं हो पा रहा है। इसलिए बाज़ार की समस्या बता कर जो कहा जा रहा है, वह पूरी तरह से बेबुनियाद है ।

तालिका–4 से दूसरी बात हमारी नज़र में यह आती है कि युरोप और अमेरिका के साथ–साथ एशिया और अफ्रीका के नये–नये देश जूट के उत्पादनों के आयात की तरफ़ ज़्यादा ध्यान दे रहे हैं। पहले बीस आयातक देशों में उभर कर आये हैं मिस्र, संयुक्त अरब अमीरात (यूएई) व घाना जैसे देश। तुर्की तो बेल्जियम और ब्रिटेन जैसे देशों को पछाड़ कर द्वितीय श्रेणी के आयातक देशों में से एक हो गया है। तीसरी बात, तालिका से यह भी स्पष्ट हो रहा है कि कुल आयात में पहले बीस देशों के आयात का अनुपात लगातार कम होता जा रहा है। 2006–07 में जो 86 प्रतिशत था, वह 2010–11 में घटकर 78 प्रतिशत आ गया। इससे ज़ाहिर होता है कि पहले बीस देशों से बाहर और नये–नये देश इस तालिका में जुड़ रहे हैं और कुल आयात का बढ़ता हुआ अंश उन्हीं के हिस्से में जा रहा है। चौथी बात, हम इसे नज़रअंदाज़ नहीं कर सकते कि जापान, कनाडा, जर्मनी व फ्रांस जैसे देश जूट के उत्पादों का आयात तो कर रहे हैं लेकिन बहुत कम। बावजूद इसके कि इन देशों में पर्यावरण आंदोलन बेहद शक्तिशाली है। प्रकृति और पर्यावरण पर प्लास्टिक के हानिकारक प्रभाव के बारे में ये लोग अनजान नहीं हैं। इसलिए अगर इन देशों में जूट के पक्ष में प्रचार किया जा सके तो जूट के बाज़ार में भारी वृद्धि हो सकती है। यानी सब मिला कर जूट के बाज़ार की अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति काफ़ी अनुकूल है। इसके बावजूद भारत सरकार की उदासीनता और जूट उद्योग के मालिकों के उद्यम के बिना यह उद्योग दम तोड़ने की कगार पर है। स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि आंतरिक बाज़ार में माँग एवं अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में पहले गिरावट और फिर माँग में वृद्धि के बावजूद जूट उद्योग की ऐसी हालत क्यों है? यह उद्योग पूर्वी भारत तथा समूचे भारत के एक महत्त्वपूर्ण उद्योग के रूप में विकसित क्यों नहीं हो पाया? इसके कारण ढूँढने जाने पर अब हमें जूट उद्योग की कुछ समीक्षा करनी होगी। इस लिहाज़ से हम उद्योग के दो महत्त्वपूर्ण उपादानों, उसके श्रमिकों और मालिकों की श्रेणियों को

कुछ क़रीब से देखने की कोशिश करेंगे।

जूट उद्योग के मज़दूर

जूट उद्योग के संकट के जिस दूसरे कारण को हम ज़िम्मेदार ठहरा सकते हैं, वो है श्रमिक असंतोष। कहा जाता है कि जूट कारख़ानों का श्रमिक असंतोष व हिंसक घटनाओं के कारण ठीक से चलना मुश्किल है। यह प्रचार पुरज़ोर तरीक़े से किया जाता है। लेकिन इस उद्योग के श्रमिकों की क्या हालत है, इसे लेकर विशेष चर्चा की ज़रूरत शायद किसी को भी नहीं लगती है।

जूट उद्योग के उद्‌भव के समय से ही इस उद्योग में कार्यरत श्रमिकों की मज़दूरी दूसरे संगठित श्रमिकों से तुलनात्मक रूप से कम थी। 1900 से 1939 के बीच जूट कारख़ानों के श्रमिकों की औसत तनख़्वाह 15 रुपये 02 पैसे थी, जबकि मुम्बई और अहमदाबाद के धागों के कारख़ानों के श्रमिकों का औसत वेतन 27 रुपये से ज़्यादा था। 1947 के परवर्ती चरण में जूट श्रमिकों की मज़दूरी पर दबाव बढ़ता गया जो कि आज एक अस्वाभाविक स्थिति में पहुँच चुका है। 1948 में इस उद्योग के लिए पहला ट्रिब्युनल (पंचाट) गठित हुआ। ट्रिब्युनल के अनुसार श्रमिकों की मज़दूरी 71 रुपये होनी चाहिए थी। लेकिन मालिकों के संगठन (आईजीएमए) ने इसे किसी क़ीमत पर नहीं माना। आख़िर में वेतन तय हुआ 51 रुपये 12 पैसे। 1951 में दूसरे ट्रिब्युनल का गठन हुआ जिसने पहली सिफ़ारिश को कम करके 63 रुपये 60 पैसे वेतन की सिफ़ारिश की। लेकिन मालिकों ने इस सिफ़ारिश को भी नामंज़ूर कर दिया और वेतन जा कर तय हुआ 56 रुपये पर। आख़िर में ट्रिब्युनल द्वारा मज़दूरों के वेतन निर्धारित करने की व्यवस्था 1963 में ख़त्म कर दी गयी और उसकी जगह जूट वेज बोर्ड का गठन किया गया। 1968 में जूट उद्योग के संकट को लेकर एक सम्मेलन का आयोजन हुआ जहाँ जूट के कारख़ानों के लगभग सभी मालिकों ने एक स्वर से इस उद्योग के अन्य संकटों में से श्रमिकों के अतिरिक्त वेतन को एक संकट के रूप में चिह्नित किया। उसके बाद यह भी देखा गया कि एक के बाद एक त्रिपक्षीय समझौतों में मालिकों ने जो वेतन देना क़ुबूल किया था, बहुत सी मिलों में वह भी नहीं दिया जा रहा है। बड़े-बड़े मज़दूर संघों के साथ द्विपक्षीय समझौते के माध्यम से मज़दूरों को कम मज़दूरी पर काम करने के लिए मजबूर किया गया। साथ में स्थायी मज़दूरों की संख्या कम करने के लिए कई तरह की कारसाज़ियाँ की गयीं। फलस्वरूप मज़दूरों के भीतर कई तरह के स्तर पैदा हो गये जिससे पूरे मामले ने बेहद जटिल और कुत्सित चेहरा अख़्तियार कर लिया। स्थायी मज़दूरों के साथ जिस क़िस्म के अस्थायी मज़दूर जूट मिल में काम करते हैं उनके विवरण पर नज़र डालने से स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी और उद्योग में मज़दूरों का इस तरह का स्तरविन्यास देखने को नहीं मिलता। यह भारत के जूट उद्योग की एक 'बेजोड़' उपलबिध है!

(1) **स्पेशल बदली :** इन्हें 220 दिनों तक के लिए काम मिल सकता है। वेतन के अलावा सिर्फ़ प्रोविडेंट फ़ंड की सुविधा इन्हें मिलती है। स्थायी मज़दूरों को मिलने वाली और कोई सुविधा इन्हें नहीं मिलती।

(2) **वाउचर मज़दूर :** नियमित पे-रोल में इनका नाम नहीं होता है। इनका पूरा वेतन वाउचर पर मिलता है। पीएफ़, ईएसआई या अन्य सुविधाएँ इन्हें नहीं मिलतीं।

(3) **ज़ीरो नम्बर श्रमिक :** ये हैं अवकाशप्राप्त मज़दूर जिनका पीएफ़ या ग्रेच्युटी का पैसा 'नहीं दिया जा पा रहा है'। उनके अवकाश ग्रहण कर लेने के बाद भी मालिक उन्हें काम देने पर मजबूर हैं। 1999 में एक समझौते के तहत इस व्यवस्था को बाध्यतामूलक किया गया है। मालिक लोग इस व्यवस्था का फ़ायदा उठा कर व्यापक रूप से पीएफ़, ग्रेच्युटी बंद करके अवकाशप्राप्त मज़दूरों को कम वेतन पर दोबारा काम पर लगा देते हैं। इन्हें सिर्फ़ दैनिक वेतन ही मिलता है। जूट मिल में हर मज़दूर के परिचय के रूप में एक नम्बर रहता है। चूँकि ये मज़दूर उस नम्बर को खो देते हैं, इसलिए इन्हें 'ज़ीरो नम्बर' कहा जाता है। इनके द्वारा उत्पादित सामग्री उत्पादन के रिकॉर्ड

में दर्ज नहीं की जाती।

(4) भागीदार श्रमिक : अवकाशग्रहण करने के बाद जब ज़ीरो नम्बर के श्रमिक कम वेतन पर काम पर लगते हैं तो एक विचित्र स्थिति पैदा होती है। धीरे–धीरे इनकी उम्र बढ़ती जाती है, लेकिन अवकाशकालीन सुविधाएँ न मिलने की वजह से ये रिटायर भी नहीं हो पाते। एक वक़्त ऐसा आता है जब ये काम का दबाव नहीं झेल पाते। तब ये अपने वेतन का एक भाग किसी दूसरे बेकार श्रमिक को दे कर उससे काम करवाते हैं। इस तरह के बेकार श्रमिक जब किसी ज़ीरो नम्बर के श्रमिक का काम करते हैं तब उन्हें 'भागीदार श्रमिक या भागवाला श्रमिक' कहा जाता है। ऐसे श्रमिकों का नाम मैनेजमेंट के किसी रजिस्टर में दर्ज नहीं होता। इसलिए इन्हें किसी भी प्रकार की सुविधा नहीं दी जाती है या इनके साथ हुई किसी भी दुर्घटना की ज़िम्मेदारी मालिक पक्ष की नहीं होती।

(5) ट्रेनी श्रमिक : इन सबके अलावा एक और तरह के श्रमिक की नियुक्ति 'ट्रेनी' के नाम पर की जाती है। काम सिखाने के नाम पर इन श्रमिकों से अत्यंत कम मज़दूरी पर बिना किसी सुविधा–भत्ता के काम कराया जाता है।

(6) कॉन्ट्रेक्ट श्रमिक : इनकी संख्या जूट मिलों में दिन ब दिन बढ़ती ही जा रही है। इन्हें सिर्फ़ ईएसआई सुविधा देने से ही काम चल जाता है।

जूट उद्योग में स्थायी श्रमिकों की तुलना में इस तरह के विभिन्न अस्थायी श्रमिक बड़ी संख्या में काम कर रहे हैं। इनकी मज़दूरी बहुत कम है। सामाजिक सुरक्षा नहीं है। स्वाभाविक रूप से इस उद्योग में मज़दूरी की दर घटती गयी है। पिछले तीस वर्षों में उत्पादन के ख़र्चे में मज़दूरी के अंश की दर उल्लेखनीय रूप से कम हुई है। नीचे दी गयी तालिका से यह स्पष्ट होता है।

दूसरी तरफ़ श्रमिकों का पीएफ़, ग्रेच्युटी, ईएसआई इत्यादि के खातों में बक़ाया की मात्रा तेज़ी से बढ़ती जा रही है। सरकारी हिसाब के अनुसार 1991 के दिसम्बर तक बक़ाया प्रोविडेंट फ़ंड का परिमाण

तालिका–5

जूट उद्योग के कुल उत्पादन व्यय में मज़दूरी का अंश

वर्ष	मज़दूरी का अंश
1987–88	51%
1992–93	39%
1994–95	27%

स्रोत : आईजेएमए, कोलकाता

180 करोड़ और ग्रेच्युटी का 80 करोड़ रुपया था। यह हिसाब कमतर है, ऐसी आशंका की काफ़ी गुंजाइश है। एक सूत्र के अनुसार हाल में कुल बक़ाया प्रोविडेंट फ़ंड 600 करोड़ से भी ज़्यादा है। इसके अलावा 300 करोड़ रुपये की बक़ाया रक़म ग्रेच्युटी के रूप में है। यह घटना एक ऐसे परिप्रेक्ष्य में घट रही है जब भारत के जूट उद्योग का औसत वार्षिक उत्पादन बढ़ रहा है (तालिका–3)। उल्लेखनीय है कि यह उत्पादन अपेक्षाकृत रूप से कम जूट मिलों और श्रमिकों की कम संख्या के साथ बढ़ रहा है। 1947 के परवर्ती समय में उल्लेखनीय जो अन्य विशिष्टता हमारे देश के जूट उद्योग में थी, वो कि जूट मिलों का कम होता जाना और श्रमिकों की संख्या का भी कम हो जाना। इस नीचे दी गयी तालिका से यह स्पष्ट होता है :

> यानी जिस वक़्त जूट उद्योग का उत्पादन बढ़ कर लगभग दोगुना हो गया था उस वक़्त चटकल यानि जूट मिलों की संख्या लगभग 40 प्रतिशत कम हो चुकी थी और श्रमिकों की संख्या भी काफ़ी कम हो चुकी थी। इसका मतलब यह है कि श्रमिक कम, उत्पादन ज़्यादा–जूट मिल कम उत्पादन ज़्यादा।

तालिका-6

1947 के बाद जूट मिल और श्रमिक संख्या में परिवर्तन

वर्ष	मिलें	श्रमिक (लाख)
1951	95	2.79
1961	83	2.38
1971	75	2.43
1981	60	2.43
1991	59	2.42
2001	59	2.02

स्रोत : आईजेएमए, कोलकाता

जूट मिल कम और मुनाफ़ा ज़्यादा। मुनाफ़ा बढ़ा है यह तालिका-3, 5 और 6 से स्पष्ट है। समझा जा सकता है कि उत्पादन व्यय के कम से कम अंश के रूप में ही मज़दूरी दी जा रही है और उत्पादित मूल्य के अधिक से अधिक होते हुए भी बहुत कम अंश श्रमिकों के पास मज़दूरी के रूप में पहुँच रहा है। इसलिए पीएफ़, ग्रेच्युटी आदि का रुपया नियमित रूप से सरकारी ख़ज़ाने में जमा करने में असुविधा होने की कोई युक्तिसंगत व्याख्या नहीं मिलती। ज़ाहिर है कि श्रमिक असंतोष और विक्षोभ आज जूट उद्योग के नियमित संगी हो गये हैं। ऐसा होना किसी भी सूरत से अनिवार्य नहीं था। तो फिर ऐसा क्यों हो रहा है? विषय को और भी अच्छे से समझने के लिए अब हम दूसरे पहलू यानी कि उद्योग के मालिक पक्ष पर नज़र डालते हैं।

भारत की जूट मिलों के मालिक

दूसरे विश्व-युद्ध के आख़िर में भारत के जूट उद्योग पर अंग्रेज़ों, विशेषकर स्कॉटिशों का असंदिग्ध आधिपत्य था। अधिकांश मिलों के मालिक ब्रिटिश व्यवसायी, सरकारी या फ़ौजी अफ़सर होते थे। उन्होंने इस उद्योग में बहुत निवेश किया था, और यह निवेश पूँजी भारत की मिट्टी से ही उत्पन्न हुई थी। चूँकि इस उद्योग में लाभ की दर अच्छी है इसलिए एक के बाद एक नये-नये जूट मिल तैयार होते गये (तालिका-2)। श्रमिकों की संख्या भी बढ़ रही थी। इसी के साथ-साथ जूट मिलों में भारतीय मालिकों की भी बढ़ोतरी हो रही थी। उन्नीसवीं शताब्दी से ही जूट उद्योग में मारवाड़ी व्यवसायी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने लगे थे। 1920 में कच्चे जूट के पहले तीन निर्यातकों में से बिड़ला एक थे। पहले वे मुख्य रूप से कच्चे जूट या पटसन का ही व्यवसाय करते थे, लेकिन 1926-29 के बीच इन में से कुछ व्यवसायियों ने उत्पादन की ओर रुझान दिखाना शुरू किया, जिनमें से उल्लेखनीय नाम हैं जानकीनाथ मफ़तलाल, सूरजमल नगरमल आदि। बिड़ला ने भी जूट उत्पादन शुरू किया था। विश्व-युद्धों ने मानवजाति का असीमित नुक़सान भले ही किया हो, पर व्यापारी और मालिक श्रेणी के रूप में नये अंकुरित भारतीय व्यापारियों का असीमित उपकार ज़रूर किया। युद्ध के मौक़े का फ़ायदा उठा दूसरी चीज़ों की तरह कच्चे जूट और जूट की विभिन्न वस्तुएँ आदि को ले कर व्यापक कालाबाज़ारी कर इस श्रेणी ने बड़े उद्योगपतियों के रूप में अपना उदय किया। दूसरे विश्व-युद्ध के आख़िर में भारतीयों द्वारा संचालित दो बड़े जूट मिल खड़े हो गये— द बिड़ला जूट मैन्युफ़ैक्चरिंग और हुकुमचंद जूट मिल्स लिमिटेड। 1947 के उत्तरार्ध में जूट मिलों का मालिकाना हस्तांतरण शुरू हुआ। अंग्रेज़ों के हाथ से यह मालिकाना हटते-हटते भारतीय व्यापारी श्रेणी के हाथ में आ गया, जो कि मूलतः जूट के दलाल और सट्टेबाज़ थे।

देश के नये शासक जूट उद्योग को लेकर ज़्यादा उत्साही कभी नहीं थे। इसका सही कारण क्या



जूट उद्योग में स्थायी श्रमिकों की तुलना में इस तरह के विभिन्न अस्थायी श्रमिक बड़ी संख्या में काम कर रहे हैं। इनकी मज़दूरी बहुत कम है। सामाजिक सुरक्षा नहीं है। स्वाभाविक रूप से इस उद्योग में मज़दूरी की दर घटती गयी है। पिछले तीस वर्षों में उत्पादन के ख़र्चे में मज़दूरी के अंश की दर उल्लेखनीय रूप से कम हुई है।

है यह बताना सम्भव नहीं है। इसके लिए अलग से समीक्षा की ज़रूरत है। लेकिन यह निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि जूट उद्योग मूलतः पूर्वांचल का एक उद्योग था। नवस्वतंत्र भारत के सत्तारूढ़ों में पूर्वांचल का प्रभाव बहुत कम था। नतीजतन निजी उद्योग के रूप में जूट उद्योग को जो अहमियत मिलनी चाहिए थी, वह नहीं मिली। नेहरू के ज़माने में एक के बाद एक भारी-भरकम उद्योगों का विकास हुआ, पर जूट उद्योग चला गया आधे-अधूरे व्यापारी, उद्योगपति, दलालों और डबल डीलरों के हाथों में जिन्होंने द्वितीय विश्वयुद्ध में सट्टे और दलाली द्वारा बहुत पैसे कमाए थे। इन्हें इस उद्योग की लम्बी मियाद के बारे में कोई चिंता नहीं थी। उन्होंने इस मुनाफ़ेदार उद्योग को जल्दी-जल्दी बेहिसाब मुनाफ़ा बनाने का क्षेत्र बना दिया।

जितना वक़्त गुज़रता गया, उतनी ही समस्याएँ बदतर होती चली गयीं। इस नयी मालिक श्रेणी की सोच लम्बी नहीं थी, इसलिए उनका कोई दीर्घकालीन निवेश नहीं था, लम्बी परियोजना भी नहीं थी। सिर्फ़ स्वार्थपूर्ति की तरफ़ ही नज़र थी। बहुतों ने दूसरों को लीज़ पर कारख़ाना चलाने के लिए दे दिया था। ये लीज़ी (जो लीज़ या भाड़े पर लेते हैं) समूह जब पहले की तरह मुश्किलों का सामना करते तो और किसी को आगे लीज़ दे देते थे। यह भी देखा गया कि इन लीज़ी में बहुत असल में मिल के लेनदार होते थे, जो चलती मिल के मालिक के भाग जाने के हाई कोर्ट या सुप्रीम कोर्ट की मध्यस्थता में मिल चलाने का अधिकार प्राप्त कर लेते थे। लेनदार कुछ समय तक मिल चला कर

अपनी रक़म वसूल लेते थे और फिर मिल चलाने के बारे में उदासीन हो जाते थे।

इस तरह भारत के जूट उद्योग में एक विचित्र क़िस्म की मालिक श्रेणी का उदय हुआ जो उत्पादन से ज़्यादा वाणिज्य या ट्रेडिंग के बारे में ज़्यादा उत्साह रखते थे। बहुत सी जूट मिलों के ख़िलाफ़ यह अभियोग है कि सरकारी कमीशन प्राप्त जूट की वस्तुओं के उत्पादन के बदले वे बांग्लादेश से नीची क्वालिटी की सामग्री लाकर आपूर्ति कर अतिरिक्त मुनाफ़ा कमाते हैं। एक तरफ़ स्वदेश और विदेश के बाज़ार में जूट के उत्पादों की माँग में वृद्धि और साथ-साथ सिर्फ़ बोरी या पैकेजिंग उद्योग छोड़ कर और भी दूसरे क्षेत्रों में भी जूट के प्रयोग की सम्भावनाएँ बढ़ने के बावजूद मालिकों ने पूरी तरह इस उद्योग को सरकारी कमीशन पर निर्भर कर दिया। यह हालत अपरिहार्य नहीं थी। यह हम बांग्लादेश के अनुभव से समझ सकते हैं। जिस समय में भारत में जूट उद्योग का लगातार क्षय हो रहा था, बिल्कुल उसी समय पूर्वी पाकिस्तान में जूट उद्योग का चमत्कारी ढंग से उत्थान हुआ। अब हम संक्षेप में जूट उद्योग में बांग्लादेश के अनुभव की समीक्षा करेंगे।

बांग्लादेश का चमत्कारी उत्थान

कच्चे जूट या पटसन और जूट के उत्पादनों के निर्यात में बांग्लादेश भारत का मुख्य प्रतिद्वंद्वी है। भारत को पीछे छोड़ता हुआ बांग्लादेश ही अब विदेश में भी नम्बर वन निर्यात करने वाला देश है। अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में जूट की चीज़ों के निर्यात में 1965 में भी जहाँ भारत का हिस्सा 90 प्रतिशत था, नब्बे के दशक के मध्य तक वह 22 प्रतिशत गिर गया। दूसरी तरफ़ बांग्लादेश आजकल कच्चे जूट का 90 प्रतिशत और जूट के उत्पादों का 70 प्रतिशत निर्यात करता है।

विभाजन के वक़्त लगभग सारे जूट मिल ही पश्चिम बंगाल के हिस्से में आये थे, और जूट की खेती वाले अधिकांश ज़िले पूर्वी-पाकिस्तान में रह गये थे। पाकिस्तान की सरकार ने जूट की खेती को प्राथमिकता दी और सरकारी आधिपत्य में एक के बाद एक चटकल यानि जूट मिल स्थापित होने लगे। 1971 में बांग्लादेश का गठन होने के बाद वहाँ के जूट उद्योग में और भी बड़ी लहर आयी। सामाजवादी विचारधारा से थोड़ा-बहुत प्रभावित होने की वजह से 1971 में मुजीब सरकार के एक आदेश के बल पर लगभग 85 प्रतिशत उद्योग सरकारी आधिपत्य में चला गया। पाकिस्तान सरकार ने 1960 में 82 जूट मिल स्थापित किये थे। 1971 के बाद सरकारी आधिपत्य और हिफ़ाज़त में मिलों की संख्या बढ़ते-बढ़ते 187 हो गयी। बांग्लादेश की सरकार ने प्राथमिक चरण में जूट उद्योग को दुरुस्त करने के लिए अनुदान की व्यवस्था की थी। 1971-72 साल में इसका परिणाम साल में 20 करोड़ बांग्लादेशी रुपया था। इसी बीच 73 चटकलों को लेकर बांग्लादेशी सरकार ने बांग्लादेश जूट मिल्स कॉर्पोरेशन यानी बीजेएमसी का गठन किया। मुजीब सरकार के पतन के उपरांत 1982 में जूट उद्योग के अनेक हिस्सों का वि-सरकारीकरण किया गया। लेकिन कुल मिला कर उद्योग पर ध्यान दिया जाता रहा और इसी कारण से बांग्लादेश के जूट उद्योग के विकास को हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं। नतीजतन विदेश के बाज़ार में जूट के उत्पादों के निर्यात में उन्होंने भारत को पीछे छोड़ दिया। सम्प्रति आँकड़ों से देखा जा सकता है कि बांग्लादेश धारावाहिक रूप से अपने निर्यात में वृद्धि करता जा रहा है।

तालिका-7 से बिल्कुल साफ़ है कि बांग्लादेश ने पिछले बारह सालों (2001-2013) में अपने जूट के उत्पादों के निर्यात को लगभग दोगुना बढ़ाया है। अगर अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में माँग न रहती तो यह सम्भव नहीं होता। लेकिन, भारत सरकार ध्यान नहीं दे रही है जिसके फलस्वरूप भारत में अपनी अथाह सम्भावनाओं के बावजूद जूट उद्योग आज उखड़ी साँसें ले रहा है।

तालिका-7

बंग्लादेश के जूट के उत्पादों का निर्यात (2001-2013)

वर्ष	निर्यात
2001-2002	4,30,277
2002-2003	3,88,950
2003-2004	3,97,353
2004-2005	4,06,573
2005-2006	4,60,434
2006-2007	4,64,250
2007-2008	5,25,074
2009-2010	8,73,400
2010-2011	5,06,946
2011-2012	6,95,792
2012-2013	8,41,716

स्रोत : बांग्लादेश जूट स्पिनर्स एसोसिएशन

किस तरफ़ है दुनिया?

ग्रीनपीस इंटरनैशनल के एक पेपर में राय दी गयी थी कि सारी दुनिया में ही, विशेषकर हवाई द्वीप समूह के समुद्र तटों पर रेत में अनुसंधान (बीचकॉम्बिंग) सदी दर सदी एक लाभदायक व्यापार रहा है। विस्तृत समुद्र में आवाजाही करने वाले जहाज़ों से जो विभिन्न चीज़ें अलग-अलग समय में समुद्र में गिर जाती थीं, वे लहरों के साथ तैरती हुई किनारों पर जमा हो जाती थीं। उन्हीं में खोजने पर तरह-तरह की सम्पदाएँ मिल जाया करती थीं। आज वहाँ सिर्फ़ मिलता है प्लास्टिक और प्लास्टिक। आज पूरी दुनिया में साल में लगभग 28 करोड़ टन प्लास्टिक कूड़े के रूप में प्रकृति पर पटक दिया जाता है। पैकेजिंग के क्षेत्र में यह युक्ति दी जाती है कि प्लास्टिक सस्ती है इसलिए इसका व्यवहार युक्तिसंगत है। यह कहते वक़्त कोई भी नहीं सोचता कि सस्ती है इसीलिए आसानी से कूड़ा समझ फेंक दी जाती है। लेकिन यह फेंका हुआ प्लास्टिक आख़िर जाता कहाँ है? उसका अंजाम क्या होता है? प्लास्टिक कूड़े का बहुत कम अंश ही प्रकृति में ज़ज्ब हो पाता है। प्रकृति में मिल जाने वाले प्लास्टिक की भी 'मिल जाने' की एक सीमा है। एक समय के बाद उसके कण और नहीं टूटते हैं। बहुत सूक्ष्म कणों के आकार में वे प्रकृति में बने रहते हैं। परंतु मिल जाने में सक्षम प्लास्टिक के कण जब प्रकृति में टूटते हैं तब उनमें से मिथेन गैस उत्पन्न होती है जो कि बेहद शक्तिशाली ग्रीनहाऊस इफ़ैक्ट पैदा करती है जिससे पृथ्वी का तापमान बढ़ता है। और दूसरी तरफ़ जो प्लास्टिक कूड़ा किसी तरह प्रकृति में नहीं मिलता, उसका तो ख़ैर कोई जवाब ही नहीं। ये समंदर में घूमते रहते हैं। इससे भूमि का क्षय और बढ़ता है। उसकी उर्वरता कम हो जाती है। समुद्र और स्थल के जीवों की विविधताओं पर ये आघात करते हैं। पारिस्थितिक तंत्र ख़तरे में पड़ता है, खाद्य-शृंखला संकटापन्न हो जाती है। और इसी के साथ जुड़ा हुआ है मानवजाति के अस्तित्व का संकट। उद्योग को प्रतियोगिता में दक्ष करने के लिए जब हम सस्ते होने के कारण प्लास्टिक इस्तेमाल करने को कहते हैं, तब हम समग्र रूप से पारिस्थितिकी तंत्र, प्रकृति, जैव वैविधता, वायुमण्डल और आने वाले दिनों में प्रकृति और मानव कुल का विनाश करने की क़ीमत हिसाब में नहीं जोड़ते। केवल वर्तमान का सोचते हुए— वह भी पूरा वर्तमान नहीं, बल्कि ऊँगलियों पर गिने हुए कुछ लोग, जिन्हें उद्योगपति कहा जाता है, की सुविधा के लिए समूची मानव जाति के भविष्य को तिलांजलि देने वाले किस उन्नत सभ्यता की तरफ़ जा रहे हैं, यह आज

विश्लेषण करके देखने की ज़रूरत है।

जूट प्रकृति का एक अद्भुत उपहार है। मनुष्य ने प्रकृति से ऐसे कई उपहार पाए हैं। हमारे देश की अपनी ही नींव पर स्थापित उद्योगीकरण के क्षेत्र में जूट की एक अहम भूमिका है। प्लास्टिक के प्रदूषण के बारे में जागरूकता आज पूरे विश्व में बढ़ रही है। हाल ही में बांग्लादेश की सरकार ने खाने की चीज़ों की पैकेज़िंग में जूट व्यवहार अनिवार्य करने की घोषणा की है। इसके पहले बेल्जियम ने भी प्लास्टिक पैकेज़िंग बंद करने की नीति की घोषणा की थी। यह जागरूकता जितनी बढ़ेगी, उतनी ही जूट की माँग दुनिया भर में बढ़ेगी। चूँकि जूट हमारे देश का एक विशेष उत्पादन है जो दुनिया के बहुत कम प्रांतों में ही उत्पादित होता है, मूलत: जलवायु के कारण से, इसलिए जूट और इसके उत्पाद हमारे लिए एक विशाल और महत्त्वपूर्ण निजी उद्योग के रूप में उभर सकते हैं। लेकिन इस तरफ़ ध्यान देते समय पेट्रोलियम केंद्रित सभ्यता से जुड़ी प्रगति की अवधारणा जो बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के स्वार्थ की रक्षा करती है। जूट की खेती किसान करते हैं और जूट के कारख़ाने छोटे-मोटे डबल डीलर्स के हाथ में है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ इनमें से कहीं भी हिस्सेदार नहीं है। बल्कि इसके उलट वे लोग पेट्रोलियम खनन से शुरू करके उसके विभिन्न बाई-प्रोडक्ट्स तैयार करने में सक्रिय हैं। इसलिए जूट की वस्तुओं के उत्पादन को लेकर वे बिल्कुल नहीं सोच रहे है। उल्टे जूट के उत्पादन शक्तिशाली होने से, उनका इस्तेमाल बढ़ने से उनकी क्षति होने का अंदेशा है। जूट उद्योग शक्तिशाली होने से लाखों-करोड़ों किसान समृद्ध होंगे, जूट श्रमिकों का उपकार होगा, सर्वोपरि हमारे देश के निजी विकास के लिए नये रास्ते खुलेंगे। चूँकि यह घटना रासायनिक, पेट्रो-रासायनिक उद्योग बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के स्वार्थ की विरोधी है, इसलिए सरकारी नीतियों को प्रभावित किया जा रहा है। 'प्लास्टिक सस्ता', 'जूट का बाज़ार नहीं है' इत्यादि प्रचार करके जनमत विभ्रांत किया जा रहा है। दुर्भाग्य यह है कि हमारे देश में सरकार ख़ुद को बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हितसाधक के रूप में चिह्नित कराने के लिए सर्वस्व लुटा कर आगे बढ़ रही है, और पैर के नीचे कुचली जा रही है जूट उद्योग के विकास की जैसी एक अथाह सम्भावना। इसलिए सरकार के लिए हमारा प्रस्ताव है :

1. अविलम्ब सारे जूट मिलों का राष्ट्रीय अधिग्रहण किया जाए।
2. जूट की खेती के लिए इलाक़ों के प्रसार के लिए किसानों को प्रोत्साहन-भत्ता दिया जाए।
3. जूट का न्यूनतम समर्थन मूल्य बढ़ाया जाए। सरकार सही दामों में किसानों से जूट ख़रीदे।
4. 1987 के जूट पैकेज़िंग क़ानून का और भी प्रसार करके उसे कड़े तरीक़े से लागू किया जाए।
5. विदेशी बाज़ार में जूट का इस्तेमाल बढ़ाने के लिए व्यापक रूप से प्रचार किया जाए एवं कूटनीतिक स्तर पर व्यापक पहलक़दमियाँ ली जाएँ।
6. सरकारी आधिपत्य में नये-नये जूट मिल चालू करना एवं श्रमिकों को सही वेतन और सुविधाएँ मुहैया कराई जाएँ।
7. जूट उद्योग के श्रमिकों से संबंधित अभियोगों का अविलम्ब फ़ैसला किया जाए।